भारतीय काव्यशास्त्र की प्रासंगिकता पर एक दृष्टि

- **प्रो. सत्यदेव त्रिपाठी**

भारतीय काव्यशास्त्र के नाम पर आधुनिक काल तक संस्कृत काव्यशास्त्र के अलावा किसी और काव्यशास्त्र का न बन-पनप पाना ही क्या इसकी जीवंतता -श्रेष्ठता, अत: प्रासंगिकता का सबसे बड़ा प्रमाण नहीं है? आखिर तो हमारे विश्वविद्यालय आज भी पाश्चात्य काव्यशास्त्र के समक्ष भारतीय काव्यशास्त्र के रूप में संस्कृत काव्यशास्त्र का ही अध्ययन-अध्यापन करते हैं।

अत: इतने श्रेष्ठ व महत्त्वपूर्ण संस्कृत काव्यशास्त्र, जो लगभग दो हजार सालों की कालावधि में सिर्फ फैला ही नहीं , वरन् तदनुरूप विषयगत व्यापकता एवं विवेचनगत गहराई से संवलित भी है, की प्रासंगिकता सारे प्रश्नचिह्नों के बावजूद निस्सन्देह बहुआयामी भी होगी और काफी बुनियादी भी।

अप्रासंगिकता के परिदृश्य - परंतु उस महनीय शास्त्र-चिंतन का महत्त्व अपनी जगह अक्षुण्ण भले हो, काल-प्रवाह भी कोई चीज़ होती है। जीवन और युग के बदलाव हमेशा ही पहले के सिद्धांतों व मान्यताओं को 'आउट ऑफ डेट' कर देते हैं - उन्हें बदलने पर विवश कर देते है। और पिछले लगभग डेढ़ सौ वर्षों में आए बदलाव तो इतने युगांतकारी साबित हुए हैं कि समस्त सामाजिक -सांस्कृतिक-कलात्मक मान्यताएँ व मानक प्राय : निरस्त-से हो चुके हैं। इस दौरान आने वाले एकाधिक पुनर्जागरण, सामाजिक-सांस्कृतिक पुनरुत्थान के प्रयत्न , वैज्ञानिक चिंतन, औद्योगिक एवं तकनीकी विकास और इन सबसे बहुत अधिक प्रभावशाली बनकर उपजे भौतिकवादी -मनोविश्लेषणात्मक एवं विकासवादी चिंतनों की धारणाओं ने सम्पूर्ण जीवन एवं जगत के विचारों एवं व्यवहारों को इतना - इतना बदल दिया कि इसके पूर्व के प्रौढ़ चिंतन के प्राय : सभी महल भग्नावशेष बनकर ही अस्तित्वमान रह सके।

जीवन में आए इन बदलावों के समक्ष साहित्य को जीवित एवं जीवंत बनाए रखने के लिए इसके मूल्यांकन को भी अपना कायापलट करना पड़ा। इसके लिए संस्कृत काव्यशास्त्र के प्राप्त स्वरूप को परिष्कृत करने मात्र से भी बात बनती नहीं दिखी। शायद इसीलिए शास्त्र का समीक्षा के रूप में नाम भी बदला और तब इसकी अवधारणा एवं कार्य भी पूरा-का-पूरा बदल गया। और अब आज पिछले दो-ढाई दशकों से मीडि या के आतंक, भूमण्डलीकरण के घाटाटोप, उत्तर आधुनिकता की जटिलता तथा 'यूज़ ऐण्ड थ्रो' जैसी कायापलट संस्कृति की चेतना आदि के बाद तो स्थितियाँ इतनी बदल गई हैं कि साहित्य एवं शास्त्र का अस्तित्व कैसा रह पाएगा, कहना नितांत मुश्किल हो गया है।

इस बदले समय व परिवेश में शायद अपने अस्तित्त्व को कायम रखने व प्रतिष्ठित कर पाने के लिए ही साहित्य की अवधारणा व सरोकारों को बदलना पडा। फलत : नयी 'आइडियोलॉजीज' से निर्मित जीवन के सरोकारों में आदर्श एवं अध्यात्म के स्थानापन्न बने हैं यथार्थ व उपयोगिता। अब भारतीय काव्यशास्त्र में प्रतिष्ठित काव्य सृष्टि की 'नियतिकृत नियम रहितां ', 'अनन्यपरतंत्राम्' या फिर 'निरंकुशा: हि कवय:' एवं 'कविर्मनीषी परिभू: स्वयंभू:' वाली समस्त मान्यता ओं का न टिक पाना स्वाभाविक ही कहा जायेगा। ये तो अपनी मूलभूत संकल्पना में ही जीवन से दूर 'आह्लादैकमयीम्' बनने के लिए एकांत साधना में 'नवरसरुचिरां' का घोल तैयार कर रही थीं। अपनी अन्तिम परिणति में अलौकिकत्व में उपराम पा ने वाली पहले की रसनिष्पत्ति को अब कठोर धरती की उर्वरता का परीक्षण कर पाने में असमर्थ होकर युग-जीवन की मुख्य धारा से लुप्तप्राय-सा होना पडा। जब भारतीय संस्कृत काव्यशास्त्र काव्यसृष्टि को ब्रह्मा की सृष्टि के समानांतर खड़ा करके उसकी

स्वायत्तता एवं महत्ता को सिद्ध कर रहा था, तब युग चेतना अपने समस्त प्रयत्नों को समाज-विकास की इतिहास-प्रक्रिया से जोड़ने की माँग कर रही थी।

बस, यही वह मूल बिंदु है, जहाँ संस्कृत काव्यशास्त्र की अप्रासंगिकता एवं उसके स्थान पर समीक्षा के आविर्भाव की संगति का विमर्श आ खडा होता है। बहरहाल...

<u>संस्कृत काव्यशास्त्र की स्वायत्तता</u> - दूसरी तरफ संस्कृत काव्यशास्त्र में काव्य को जीवन व मनुष्य से जोड़ने की कोशिश नहीं के बराबर रही। सिद्धांतगत गूढ़ चर्चाएँ सिर्फ काव्यशास्त्रियों व काव्य-मर्मज्ञों के बुद्धि-विलास तक ही महदूद रहीं। आनंद की खोज में दर्शन की उच्च पीठिका तक पहुँचने की अति ऊर्ध्वमुखी यात्रा में सामान्य पाठक के नजरअंदाज होते जाने की उन्हें पडी भी न थी। फिर संस्कृत काव्यशास्त्र के समक्ष आज की भागमभाग, होड़, अधिकार-लिप्सा, सरकारी-तंत्र की मारा-मारी नहीं थी। उसे प्रोफेसर या वाइस चांसलर अथवा निदेशक-सम्पादक बनने का मोह (व अवसर भी) नहीं था। बॉस का डर नहीं था। रोजी -रोटी का चक्कर नहीं था। इस कारण उनके पास पर्याप्त समय था। वे एक विषय पर केंद्रित होकर जीवन भर साधना कर सकते थे। इसलिए रस का चिंतन जिस तरह दो हजार सालों तक होता रहा, वह आज सम्भव नहीं। और इसीलिए उनकी विवेचनाएँ यद्यपि नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा से प्रसूत हैं , मूल्यवान हैं, फिर भी आज के युगीन दबाव में अति सूक्ष्मताओं की विशद चर्चा के दौरा न कहीं बाल की खाल निकालने जैसी बात भी पैदा कर जाती हैं। इसके तहत उन तर्क-वितर्कों को लिया जा सकता है, जिसमें सभी सम्प्रदायों के प्रवर्तक अपने सिद्धांत को ही सर्वोपरि (काव्य की आत्मा) मानने-मनवाने के प्रबल आग्रही रहे। इसी प्रकार 'रस आस्वाद्य है' या 'रस आस्वाद है' अथवा 'अलंकार व अलंकार्य' आदि के विवेचन इतने दीर्घसूत्री हो जाते है कि इस उपयोगितावादी युग में मन बिदकने भी लगता है।

<u>युगीन अनुकूलता की साधना -</u> संस्कृत में विवेचित भारतीय काव्यशास्त्र की इसी कमी को पूरने के लिए तथा साहित्य को समसामयिक सरोकारों से जोड़ने की सहज गति में काव्य को उस जकड़बंदी से बाहर लाने की प्रक्रिया का ही परिणाम रहा कि धीरे -धीरे शास्त्र को समीक्षा एवं शास्त्रीयता को व्यावहारिकता का बाना धारण करना पड़ा। शुक्लजी की रसवादी समीक्षा में लोक-मंगल का प्राणतत्त्व इस प्रक्रिया का ही प्रमाण है।

ध्यातव्य है कि साहित्य सदा से ही जीवनोन्मुख रहा - जीवन से उद्वेलित-प्रेरित-संचालित। यह तो समस्त भारतीय काव्यशास्त्र के चिंतन का नजरिया रहा और आज यह सिद्ध हो रहा है कि उसकी सीमा या अपवाली रही, कि वह काव्य को जीवनपरकता से अलग उन राहों की तरफ ले गया। यह प्रक्रिया भी हर युग की, उसके चिंतन की अपनी नियति ही होती है। आज भी हमारे समीक्षा रूप - विशेष रूप से मार्क्सवाद -रूपवाद-संरचनवाद-मनोविश्लेषणवाद...आदि - इतने सैद्धांतिक होते जा रहे हैं कि इसी के परिणामस्वरूप इनसे प्रभावित सृजन तथा मूल्यांकन एक जकड़बंदी में कसते चले जा रहे हैं। आज हमें अपने भारतीय काव्यशास्त्र की इस नियति से चेतना होगा कि ये सिद्धांत , मूल्यांकन व सृजन की पृष्ठभूमि व प्रमाण बनें, यदि परिणाम बनने लगेगें, तो इनका भी हस्र वही होगा।

गद्य-साहित्य के आगमन ने भी संस्कृत काव्यशास्त्र को अप्रासंगिक बनाने में अहम भूमिका निभाई। सर्वविदित है कि सं स्कृत काव्यशास्त्र काव्य पर ही आधारित रहा और काव्य में ही लिखा भी गया। अत: गद्य-साहित्य के लिए उसमें प्राय: कुछ था भी नहीं। इसलिए इस नए मार्ग (गद्य) के मूल्यांकन के लि ए आधुनिक भारतीय आलोचना को अक्सर ही पश्चिम की ओर देखना पड़ा और कहने की जरूरत नहीं कि वहाँ से पर्याप्ताधिक अवदान इस क्षेत्र में हमारा वाहक भी बना।

<u>प्रासंगिकताओं के साक्ष्य-</u> उक्त अप्रासंगिकताओं के बावजूद आज की समीक्षा के हर रूप व प्रकार में संस्कृत काव्यशास्त्र के सुचिंतित तत्त्व गहनता से अंतर्भुक्त हैं। आज की मान्यताएँ उनसे अलग दिखती हैं, पर माला के फूलों को जोड़नेवाली अदृश्य अर्गला की तरह वे परोक्षत : इसे सँभाले-सँजोए हुए भी हैं। इसे परखने के लिए उन समाहित उन तत्त्वों को पहचानना-निबेरना होगा। अस्तु....

<u>काव्य प्रयोजन</u> से शुरू करें। काव्य के षट् प्रयोजनों में से आज की अफाट भौतिकवादिता के तहत पहले दो- 'काव्यं यशसे, अर्थकृते' को ही आज पूर्णत : ग्रहण कर लिया गया है। 'शिवेतिरक्षतये' भी 'अर्थकृते' में समा चुका है। 'संद्य: परनिर्वृत्तये' तो पूरा ही छूट गया है। 'व्यहारविदे' वैकल्पिक रूप में ही प्रासंगिक रह गया है। 'कांतासम्मिततयोपदेशयुजे' की संकल्पना की मार्दवता एकदम लुप्त हो गई है। आज तो साहित्य में कर्कश कांता या विवशक्लांत कांता (यथार्थ-अतियथार्थ) का साक्ष्य ही बहुतायत में मिलता है। इस श्लोक को पूर्णत : प्रासंगिक बनाने के लिए आज कुछ इस प्रकार कहना होगा (आचार्य मम्मटजी से क्षमा-याचना सहित)-

काव्यं यशसेअर्थकृते व्यवसायविदे स्वार्थेतिरक्षयते। सद्य: सफलता प्राप्तये संपादक सम्मतयोर्भावयुजे॥

<u>छह सम्प्रदायों की अवधारणा -</u> संस्कृत काव्यशास्त्र की प्रासंगिकता का असली विवेच्य तो संस्कृत से चले आ रहे छहो सम्प्रदायों की आज के आलोचना -संसार में प्रयुक्ति एवं उपयोगिता पर विचार करने में ही निहित है। इसमें ध्वनि एवं रस भावक व भावुक दोनों के लिए रचना के अंतस् पक्ष एवं रीति-वक्रोक्ति एवं अलंकार उसके बाह्य पक्ष के विवेचन का प्रतिनिधित्व करते हैं । वैसे 'वागर्थाविव संपृक्तौ' के साक्ष्य पर दोनों की अन्योन्याश्रितता से इनकार कै से किया जा सकता है। इ न्हीं पर आधारित भाव एवं कलापक्ष का वर्गीकरण हिन्दी मे बहुत प्रचलित हुआ था, जो किसी-न-किसी रूप में आज भी विद्यमान है।

<u>1-आचित्य</u> - उक्त संश्लिष्टता का विधेयक तत्त्व है - **<u>'औचित्य'</u>**, जो सबसे अंत में जनमा। सबसे कम विवेचित व मकबूल हुआ। परंतु आज के समीक्षा कर्म में वही मुझे सर्वा धिक प्रासंगिक लगता है, जो सारे विमर्श के बाद अंत में यथार्थ का प्रतिरूप सिद्ध होता है। उसके चिंतन का स्वरूप यथार्थ से ही सधता है, जो आज की समीक्षा का केंद्रीय तत्त्व है। यही उसकी सर्वाधिक प्रासंगिकता का सबब भी है। जन्म काल से ही औचित्य की प्रकृति काफी प्रैक्टिकल रही है। इसकी सबसे पहली बात तो यही कि इसके पुरस्कर्ता क्षेमेंद्रजी ने औचित्य को सम्प्रदाय का रूप देने या 'काव्य की आत्मा' सिद्ध करने का कोई प्रयत्न न करके इसे फालतू के लेबलों से बचा लिया - जैसा कि बाकी सभी आचार्यों ने अपने-अपने सम्प्रदाय के लिए जमकर किया।

रचना में हर स्तर पर अनौचित्य से बचना ही औचित्य -चिंतन का मूल मर्म है। सत्ताईस अंगों के संदर्भ में क्षेमेंद्रजी ने औचित्य का विवेचन प्रस्तुत किया है। आज की समीक्षा में उठते ढ़ेरों अन्य संदर्भों में भी इसे लागू किया जा सकता है , जो शास्त्रीय के अलावा जीवनपरक एवं व्यावहारिक हो सकते है। श्रृंगार रस का वर्णन प्रि यतर होता है, पर युद्धभूमि में श्रृंगार-वर्णन अनौचित्य के कारण ही अमान्य तो क्या, निंदित भी होगा। इसी प्रकार रस-परिपाक रचनाकार एवं पाठक का ध्येय हो सकता है, पर बच्चे को डरावने दृश्यों से साधारणीकृत करके रसदशा में ले जाने का प्रयत्न उसे बेहोश कर देना ही हो गा, जो कदापि उचित न होगा। औचित्य -स्थापन के लिए काव्य -सृजन एवं पठन नहीं हो सकता, पर सृजन व पठन का औचित्य स्वयंसिद्ध है। और इसी रूप में यह सिद्धांत समीक्षा व समीक्षक के लिए ही बना हुआ साबित होता है , जबकि रस-ध्वनि-रीति-वक्रोक्ति आदि सब सर्जक एवं सामाजिक के लिए।

कैसी पद रचना हो , उक्ति वैचित्र्य का कैसा प्रयोग हो , कितने अलंकार समाविष्ट हों कि कवि की अभीप्सित ध्वनि निकले तथा पाठक भी रस ग्रहण करे आदि -आदि की पूरी निर्णयात्मकता औचित्य के दायरे से सम्बद्ध है। इस रूप में वह सबके बीच संतुलन स्थापित करता है , उसका परीक्षण करता है- और यही समीक्षा-कर्म है। इसके अंतर्गत लेखक को जो कहना है , और उसके लिए वह जो साधन इस्तेमाल करता है, की सटीकता की परख निहित है। उदाहरण लें-

मनु यदि श्रद्धा को छोड़कर ('कामायनी' में) भागेंगे नहीं तो कथा का क्या होगा ? कवि अपनी बात कैसे कहेगा? पर उसके भागने का कोई कारण होना चाहिए और वह कनविंसिंग (सहमतिदायक) भी होना चाहिए, निरा हवाई नहीं। समकालीन जीवन में व्याप्त पुरुष की भोगवादिता का अनौचित्य ही यहाँ काव्य में यह मोड़ लाने का औचित्य सिद्ध कर देता है और इस रूप में यह तत्त्व काव्य व जीवन दोनों को ही संचालित करता है। यही युग का यथार्थ भी है। यही यथार्थ आधुनिक समीक्षा के मानकों का मेरुदण्ड है। 'कामायनी' के इस यथार्थ को समझकर ही इस प्रसंग की व्यंजनाओं को समझा-समझाया जा सकता है। ऐसे ही यथार्थों से संकलित औचित्यों को पकड़ना व उसे प्रमाणित करना समीक्षक की कला-चेतना व जीवनानुभव से ही सम्भव है। शकुंतला को दुष्यन्त द्वारा त्यागना उस युग के सामंती मूल्यों का सत्य था , यथार्थ था। शायद कोई समीक्षक कहे कि दुर्वासा का शाप बहुत लचर कारण है। तब भले यह विश्वसनीय कारण रहा हो, आज के वैज्ञानिक युग में तो उस पर विश्वास करना असम्भव है। पर जहीन कला -चेतना यह अवलोकन-बिंदु भी तलाश सकती है कि उस जमाने में राजाओं वगैरह को कारण नहीं , बहाना चाहिए होता था। कहावत आज भी जिंदा है कि औरत को छोड़नेवाला पुरुष शाक में हल्दी न डालने (जो पड़ती ही नहीं) का बहाना बनाता है। इसी तरह दुर्वासा का शाप लचर तो है , पर सोद्देश्य है , जिससे दुष्यन्तों के विद्रूपमय यथार्थ पर व्यंग्य किया गया है। इस औचित्य को मर्मज्ञ समीक्षक उद्घाटित कर देगा , क्योंकि कालिदास की कला - चेतना व उस युग के जीवन संदर्भों में यह था, जो इस प्रसंग का औचित्य-निर्धारण कर सकेगा।

कथा साहित्य में लेखक कथ्य के बिंदु से सृजन यात्रा में प्रवृत होता है। उसी के अनुरूप परिवेश चुनता है। फिर तदनुरूप पात्र, उनके रहन-सहन, उनकी जीवन-पद्धति एवं इन्हीं के अनुकूल व उपयुक्त घटनाएँ आदि। यदि इनमें असंतुलन होगा , तो सृजन क्षतिग्रस्त होगा। इसी संतुलन व उपयुक्तता की संगति की पहचान व विश्लेषण ही आलोचना का कार्य है , जिसका सटीक नियमन (नियंत्रण नहीं) करता है- औचित्य-विमर्श। इसी रूप में जीवन के यथार्थ का साखी होकर यह अकेले ही सम्पूर्ण काव्यशास्त्र की प्रासंगिकता का वाहक हो सकता है। इसके कार्य विविध रूपी हैं और प्रणालियाँ अनेक।

<u>2-अलंकार</u> - भारतीय (संस्कृत) काव्यशास्त्र के प्रारम्भ में सर्वाधिक आचार्य अलंकारवादी रहे। उन्होंने 'काव्यशोभाकरान धर्मान अलकारन प्रचक्षते ' से आगे बढकर अप्ने पुष्ट विवेचनों से अलंकार्य व अलंकार को एक कर दिया; पर इस महनीय भूमिका में इसकी प्रासंगिकता नवीं शताब्दी से ही प्राय : क्षीण-सी हो गई। आज तो सीधे-सीधे और अनिवार्य रूप से अलंकार-प्रयोग का उल्लेख तक समीक्षाओं में नहीं होता। लेकिन अलंकारों की प्रयुक्ति गद्य-पद्य दोनों में सहज रूप से अनिवार्य-सी है। लगभग सौ के करीब उल्लेख्य अलंकारों में से एक दर्जन तो अपने प्रयोग में निरंतर हमारे साथ हैं। 'उपमा कालिदासस्य' की श्रेष्ठता से लेकर 'सूर सूर तुलसी ससी' की तुलनात्मकता तक समीक्षा भी इसका प्रयोग करती रही है। अलंकारों के प्रयोग -और ढ़ेरों शास्त्रीय प्रयोग- से भरे रीतिकाल की कोई चर्चा अलंकारों के बिना हो ही नहीं सकती। उसमें भी विशेष रूप से अलंकार-प्रयोग के क्षेत्र में बिहारी की मातबरी मात्र इसी बल पर भी टिकने योग्य है। और अतिशयोक्ति को बाद कर दिया जाए , तो भूषण

की कविता में क्या रह जाएगा? आधुनिक काल ने तो मानवीयकरण एवं ध्वनि (ओनोमोटोपोइया) जैसे अलंकारों की चर्चा इंपोर्टेड अलंकारों के रूप में शुरू की, जबकि भारतीय साहित्य में मानवेतर प्राणियों एवं प्रकृति के उपादानों के मानवीयकरण से लेकर चर-अचर सभी की ध्वनियों के बहव: प्रयोग हुए हैं। प्रसादजी के अभिनव उपमानों से सजी श्रद्धा की चर्चा भी कम नहीं हुई है। यही हाल 'नौका-विहार', 'जुही की कली' जैसी कविताओं का भी रहा और छायावाद ने भाषा व सूक्ष्म भावों के रूप में कविता को अभिनव संस्कार देते हुए अलंकार -प्रयोग को भी नए रूप में संस्कारित करके प्रस्तुत कर दिया। नई कविता में सौंदर्य के अलावा आक्रोश -पीड़ा आदि की अभिव्यक्ति करते हुए अलंकार अपनी प्रासंगिकता को नित नवीन मोड़ देते रहे हैं।

इनके साथ 'उसी तपस्वी -से लम्बे थे देवदारु दो -चार खड़े' जैसे बिम्ब विधान भी अलंकार की आधारशिला पर ही खड़े हो सके। रूपक -योजना के लिए सूर -तुलसी मशहूर हैं, पर आधुनिक काल में रूपकात्मकता से संतरित होकर प्रतीकात्मक प्रयोग का बाना धरते अलंकारों को पहचानने व उन्हें श्रेय देने की जरूरत है। इस प्रक्रिया की एक अभिनव बानगी है - '**निर्वचन मैदान में लेटी हुई है जो नदी, पत्थरों की ओट में जा-जा के बतियाती तो है।**

बोलचाल की भाषा में प्रेमचंद ने गद्य में अलंकारों का व्यंजनात्मक -ध्वन्यात्मक प्रयोग सहज ही कर दिया है- 'दोनों देवियों ने शब्द बाहुल्य की नदियाँ बहा दीं। उपमा-रूपक-उत्प्रेक्षा आदि अलंकारों में बातें हुईं।' इन सब प्रयोगों को कोई भी आलोचना आज नजरअंदाज कैसे कर सकती है! और चाहे जिस रूप-नाम से इसे समीक्षित किया जाए, यह रहेगा अलंकार ही। फिर अलंकार -सम्प्रदाय की प्रासंगिकता को भला कैसे नकारा जाए! यह बात अवश्य है कि अलंकार पर आधारित कोई वाद या समीक्षा -पद्धति आज की आलोचना में शायद नहीं बनी है।

<u>3- रीति-सम्प्रदाय</u> - परंतु रीति के बारे में ऐसा नहीं कहा जा सकता। एक तो शैलीगत अर्थ में तीन या पाँच के बदले अनेकानेक शैलियों के रूप में वह नित नवीन से नवीनतर होता जा रहा है और दूसरे, शैली वैज्ञानिक एवं रूपवादी समीक्षाओं का मूल आधार वही पदबंध या शब्द योजना है, जिसके लिए वामन ने 'विशिष्टा पद-रचना रीति:' कहा था 'स्टाइल इज मैन' की कहावत के सत्य का एक प्रमुख आधार भी यही पद-रचना है। 'प्रसाद की पंक्ति है' के रूप में हम पंक्तियों को काव्य-व्यक्तित्व दे पाते हैं। हिंदी साहित्य में 'रीतिकाल' का पूरा युग ही इसकी प्रतिष्ठा की गुहार लगा रहा है। 'दंडी का पद-लालित्य' और 'कवि कुलगुरू-कालिदास का विलास' की विशिष्टता, रीति की साखी रही, जो अपने अंतरिम उत्कर्ष में भारवि- माघ में 'रीति काल' ही बन गया। नंददास को जडिया का श्रेय देनेवाली आलोचना के मूल में रीति-विधान ही कार्यरत रहा। द्विवेदी युग के बाद आ ए छायावाद को शैलीगत आंदोलन कहते हुए शुक्ल जी ने उसपर प्रकारांतर से रीति वैशिष्ट्य की ही मुहर लगाई और गीत से नवगीत का परिवर्तन तथा नई कविता के रूप में कविता का काया कल्प...आदि सब रीति के ही चमत्कार हैं। इसके अनेकानेक रूप सर्वत्र पाए जा सकते हैं। ये समीक्षा में बहव: विवेचित भी हो रहे हैं। और इन सब में रीति संप्रदाय के चिंतन के प्रभाव व प्रेरणा से कोई इनकार नही कर सकता - घोषित रूप में कहे भले न।

<u>4- वक्रोक्ति -</u> की स्थिति रीति व ध्वनि के बीच की है। 'विशिष्टा पद-रचना' के बदले 'विशिष्ट उक्ति', जो विविधता, वैदग्ध्य-चमत्कार युक्त हो। यह कविकर्म कौशल है। लेकिन इस उक्ति वैचित्र्य से निकला अर्थ ध्वन्यर्थ की तरह 'लोक-शास्त्र सम्मत' से भिन्न हो जाता है। यही चमत्कारत्व है। यह सिद्धांत मूलत: वक्रोक्ति अलंकार से उद्भूत है। इसकी सिद्धांत- चर्चा में हुए वक्रोक्ति- स्वभावोक्ति-

अतिशयोक्ति के जटिल विवेचन को बाद कर दें, तो शब्द-वर्ण-अर्थ, वाक्य, प्रकरण एवं प्रबंध आदि से बनती वक्रोक्ति आज भी जीवन में और इसीलिए काव्य में समान रूप से प्रचलित है। 'आँसू' में लिंग का बदला प्रयोग (कौतूहल से तुम आए) व पंतजी की 'मधुपकुमारि' को वक्रोक्ति-युक्त चमत्कार से ही समझा जा सकता है। शब्दों को क्वायन करके समान वर्णोंवाले शब्दों के विपरीतार्थक साक्ष्य से प्रभावोत्पादक अर्थ पैदा करने में वक्रोक्ति के निदर्शन होते है – 'विलोम क्या है , एक असफल कालिदास और कालिदास क्या है, एक असफल विलोम।'

लेकिन वक्रोक्तिवत प्रयोग का और प्रासंगिक रूप तब समझ में आता है , जब धूमिल की कविता का व्यंग्य उक्तिवैचित्र्य (काकुवक्रोक्ति) से खुलता व विविधता पाता है – 'जिस उम्र में/ मेरी माँ के चेहरे पर झुर्रियाँ पड गई हैं / उसी उम्र की/ मेरी बगल वाली औरत के चेहरे पर / मेरी प्रेमिका के चेहरे-सा लोच है।' इसमें अलग-अलग अंशों पर जोर देकर या हलका करके पढने से कई तरह के असर व अर्थ बनते-खुलते हैं। और यह पूरा मामला वक्रोक्ति की बहुविध साम र्थ्य से भरा है , जिसके बिना ऐसी कविताई से वंचित हो जाना पडेगा।

आज का पूरा व्यंग्य साहित्य वक्रिक्ति की प्रासंगिकता में चार चाँद लगा रहा है। शरद जोशी व पी.के. सक्सेना जैसे व्यंग्यकार मंच पर खूब लोकप्रिय हुए , जो वक्रोक्ति के मूल स्वरूप का ही अभिनव विकास है। वैसे संपूर्ण व्यंग्य साहित्य अपनी प्रक्रिया में वक्रोक्ति है। परिणाम में तो पूरा साहित्य ही ध्वनि या व्यंग्य हो जाता है। अस्तु, वक्रोक्ति की प्रासंगिकता के क्षेत्र बहुत व्यापक एवं इसके आयाम बहुकोणीय हैं। जब भी , जिस भी साहित्य रूप में बातचीतपन व बाँकपन लाना होगा , वक्रोक्ति के बिना काम न चलेगा- 'तुम कौन सी पाटी पढे हो लला, मन देहु पै लेहु छटाँक नहीं' की तरह। मीडिया के इस युग में वक्रोक्ति का महत्व एक और चरम की ओर बढ रहा है- जो कि अपनी व्यावसायिक भटकनों के चलते न ही वक्रोक्ति से कुछ खास ले पा रहा है और न ही कुछ दे पा रहा है।

5- 'ध्वनि'- का भारतीय काव्यशास्त्र में वर्णित व्यंजनात्मक स्वरूप तो साहित्य की कुदरत ही है, वरना कोई भी साहित्य 'अवर काव्य' ही हो जाए - वार्त्ता या रिपोर्ट। ध्वनि का परिवर्तित नाम ही आज की समीक्षा में विकसित- परिमार्जित होकर 'कथ्य' या दृष्टि' है, जिसके अभाव में गुलशन नंदा के उपन्यास व विशुद्ध व्यावसायिक गीत अपनी सारी लोकप्रियता के बावजूद सा हित्य में स्थान नहीं पा रहे हैं। यह दृष्टि एवं कथ्य ही आज की साहित्य-समीक्षा का श्रेय व प्रेय है। संस्कृत काव्यशास्त्र में ध्वनि तक पहुँचने के विधान बताए गए हैं। यह प्रक्रिया है , जो शब्द की लक्षणा-व्यंजना शक्तियों पर आधारित है। लेकिन आज कथ्य की तलाश किसी ऐ सी निर्धारित प्रक्रिया या सीमित आधारों की मोहताज नहीं है। इसके अनेक व अनुपम आधार बन चुके हैं - नित बनते जा रहे हैं। परंतु हर रूप में समीक्षा का एकमात्र ध्येय यही हो गया है कि लेखकीय मंतव्य तक पहुँच जाया जाए...।

और इसके लिए शास्त्रीय मानदंडों के स्थान पर अब लोक, इतिहास व समाज के मानदण्ड ज्यादा प्रयुक्त हो रहे हैं। ऐसे में ध्वनि तक पहुँचाने के काव्यशास्त्रीय तरीके तो प्राय : अप्रासंगिक हो रहे हैं, पर ध्वनि की अवधारणा की प्रासंगिकता बढती जा रही है। बदले संदर्भों-आयामों से प्राप्त व विश्लेषित कृति का मर्म तलाशना मोटे तौर पर उसी व्यंजना यानी ध्वनि की ही तलाश है। इस प्रकार अपने रूपांतरित वजूद के साथ ही ध्वनि की प्रासंगिकता बन सकती है और इस संतरित स्वरूप में इसकी उपादेयता असंदिग्ध है।

6- रस की प्रासंगिकता का सवाल - सर्वाधिक प्रचलित भी है और काव्यशास्त्र में सर्वाधिक विवेचित भी। परंतु आज समीक्षा में या पाठ-ग्रहण में सबसे कम उपयोगी साबित हो रहा है- यानी व्यावहारिक

रूप से उतना सम्बद्ध व ग्राह्य नहीं हो पा रहा है। 'रसो वै स :' की अवधारणा तो आज की व्यावहारिक आलोचना में लुप्त-सी ही हो गई है। रस निष्पत्ति भी बैठे-ठाले के चोंचले या परीक्षा पास करने की मजबूरी में ही पढ़ी जाती है और परीक्षा की समाप्ति पर भुला दी जाती है लेक्चर लेने के दायित्व भर ही पढ़ानेवाला भी पढ़ता-पढ़ाता है। मेरी समझ में साधारणीकरण के रूप में फिर भी रस की प्रासंगिकता कुछ हद तक आँकी जा सकती है। लेकिन वहाँ भी उस समग्र, विशद व जटिल विवेचन के रूप में नहीं, वरन् सम्प्रेषण-प्रक्रिया के रूप में ही। ध्वनि से युक्त व विकसित कथ्य व्यक्त होता है - रीति-वक्रोक्ति-अलंकारादि से निर्मित प्रस्तुति में, पर किस तरह वह पाठक-दर्शक तक पहुँचता है और वे किस प्रक्रिया से तथा क्यों उसे ग्रहण करते हैं आदि का एक पूरा पक्ष है, जो समीक्षा का एक महत्त्वपूर्ण अनुषंग है। रस -सिद्धांत का साधारणीकरणवाला पक्ष इसी की सम्पूर्ति में प्रासंगिक है। यह पाठ-प्रक्रिया का विश्लेषण करने में सक्षम है। इसके इस रूप को व्यवस्थित ढ़ं ग से विकसित करके इस चिंतन-प्रणाली को समीक्षा के व्यावहारिक स्वरूप के लिए जीवंत, उपयोगी बनाया तथा इससे समीक्षा-संसार को समृद्ध किया जा सकता है। सौंदर्य -शास्त्रीय समीक्षा के आधार रूप में इसे समाहित-विवेचित करने के स्तुत्य प्रयत्न हुए है ; पर कोई ठोस पद्धति व कारगर परिणाम नहीं निकल सका है - कम-से-कम मेरी जानकारी में, जो शायद अल्पज्ञता भी हो, पर यह प्रक्रिया स्पष्ट न हो पाने की हद तक जटिल बनकर रह गई है।

<u>निष्कर्ष-</u> इस प्रकार छहों सम्प्रदायों पर दृष्टिपात करने से लगता है कि संवेदना पक्ष के इतना बदल जाने के बावजूद इसके वाहक रस व ध्वनि कम प्रासंगिक नहीं हुए हैं, जबकि प्रस्तुति के पक्षों ने तमाम नाम-रूप धर-धरकर अपने को कारगर बनाए रखा है। इनके परिसंस्कार भर से प्रासंगिकता सिद्ध होती हैं, जबकि ध्वनि को पुनरवतार लेना हुआ है और रस को पुनरवतार में भी बहुत बद लाव दरकार है। औचित्य का सहज प्रतीकांतरण बेहद उपयोगी होकर सर्वाधिक प्रासंगिक बन सका है। इनके अलावा कुछ और भी बहुत स्पष्ट अवदान हैं। मसलन , भारतीय काव्यशास्त्र में रीतिकालीन कवि-आचार्यों के लक्षण ग्रंथों का भी एक पूरा आलोचनाशास्त्र है। इसे ही हिंदी समीक्षाशास्त्र की शुरुआत भी मानी जाती है और हिंदी कविता के उदाहरणों के साथ संस्कृत काव्यशास्त्र से अविकल प्रेरित भी है। दोनों के बीच का सेतु कह सकते हैं। 'ये रीतिकालीन प्रयास ही आधुनिककाल की समीक्षा के आधार स्तम्भ आचार्य शुक्ल एवं संस्कृत काव्यशास्त्र के बीच सेतु का कार्य भी करते हैं। ' दूसरी बात यह भी कि शुक्लजी का रस-चिंतन संस्कृत काव्यशास्त्र की परम्परा पर ही आधारित है - बेशक ढ़ेरों इतर तत्त्वों को समाहित करते हुए अपने अभिनव रूप में। और इस रसवादी दृष्टि ने हिंदी समीक्षा को सुदूर तक संवारा तथा संबल प्रदान किया है। इसी धारा का विकास ही डॉ . नगेंद्र के रस-चिंतन के रूप में भी द्रष्टव्य है। इस धारा में बाबू गुलाब राय व श्यामसुंदर दास जैसे समीक्षक भी आते हैं। इन सबकी दृष्टि का प्रमुख उपजीव्य संस्कृत काव्यशास्त्र ही है।

इस प्रकार अनेकानेक रूपों में भारतीय (संस्कृत) काव्यशास्त्र की प्रासंगिकता अपनी गुणकारी भूमि का के कारण अक्षुण्ण है। इससे वर्तमान समीक्षा को दिशा व गति मिलती है। इसकी संकल्पनाओं को और सूझबूझ के साथ व्याख्यायित करने की बड़ी जरूरत है। इससे आज की समी क्षा के और बंद दरवाजे खुलेंगे तथा यह समृद्ध होगी।

सम्पर्क- **हिन्दी विभाग, एसएनडीटी महिला विवि, 1-ठाकरसी मार्ग, चर्चगेट, मुम्बई-400020, मो.- 09819722077**